**E-ISSN:** 2664-603X
**P-ISSN:** 2664-6021
IJPSG 2021; 3(2): 101-105
www.journalofpoliticalscience.com
Received: 23-08-2021
Accepted: 02-10-2021

**शंकर लाल मीणा**
शोधार्थी (पीएचडी), राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान, भारत

**Corresponding Author:**
**शंकर लाल मीणा**
शोधार्थी (पीएचडी), राजनीति विज्ञान विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान, भारत

# राजनीतिक दलों कि उभरती प्रवृत्तियों का भारतीय राजनीति पर प्रभाव

## शंकर लाल मीणा

**सारांश**
'लोकतांत्रिक व्यवस्था कि सफलता राजनीतिक दलों पर ही निर्भर करती हैं। राजनीतिक दलों के माध्यम से ही लोकतंत्र में सरकारों का गठन व संचालन किया जाता हैं और जन इच्छाओं को पूर्ण किया जाता हैं। वर्तमान समय में बदलती परिस्थितियों में राजनीतिक दलों कि नवीन प्रवृत्तियाँ देखी गई हैं। इन उभरती प्रवृत्तियों ने सरकारों की कार्य प्रणाली को प्रभावित किया हैं। जिसका प्रभाव सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था पर देखा जा सकता हैं।

**मूल शब्दः** प्रवृत्तियाँ, गठबंधन, न्यायिक–सक्रियता, बहुदलीय–व्यवस्था, अर्द्व–संघ, महासंघ, जन–उफान, स्वायत्तता, संघीयकरण।

**प्रस्तावना**
लोकतांत्रिक व्यवस्था को राजनीतिक दलों की बदलती प्रवृत्तियाँ व्यापक स्तर पर प्रभावित करती हैं। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों ने संपूर्ण प्रशासन व्यवस्था को प्रभावित किया हैं। सरकार के सभी अंगों की कार्यप्रणाली में परिवर्तन देखा गया हैं, यह परिवर्तन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में राजनीतिक दलों कि उभरती प्रवृत्तियों से प्रभावित रहीं हैं। इसी कारण आधुनिक समय में प्रशासन के सभी स्तरों पर राजनीतिक दलों की नवीन प्रवृत्तियों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता हैं। लोकतंत्र में राजनीतिक दलों का विशेष महत्त्व होता हैं। राजनीतिक दलों के अभाव में सफल लोकतंत्र कि कल्पना भी नहीं कि जा सकती हैं। दलीय व्यवस्था का प्रभाव संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था पर पड़ता हैं। यही कारण हैं किसी राष्ट्र के राजनैतिक दलों द्वारा अपनायी गई नीतियों और कार्यप्रणाली का प्रभाव वहाँ कि शासन–व्यवस्था पर देखा जा सकता हैं। भारतीय शासन व्यवस्था पर भी राजनैतिक दलों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता हैं। भारतीय राजनीति के प्रारम्भिक समय में एक दलीय प्रणाली का प्रभाव बना रहा था। एक दलीय प्रणाली के कारण शासन व्यवस्था में संघीय प्रवृत्तियाँ छिपी रहती थी। प्रधानमंत्री व मंत्रिमंडल सम्पूर्ण शासन व्यवस्था व राजनीति पर छाए रहते थे परन्तु दलीय व्यवस्था में हुए परिवर्तनों के शासन व्यवस्था में प्रभावशाली बदलाव देखे गये थे।
भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में संविधान लागू होने के चार दशकों तक अखिल भारतीय कांग्रेस के प्रभाव ही बना रहा था। एक दलीय वर्चस्व वाली कांग्रेस पार्टी ने शासन व राजनीति में संघीय पहलू को प्रायः दबा दिया था। प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद् के प्रभाव में संसदीय शासन प्रणाली ही हावी रही। 1989 ई. के आम चुनावों के बाद लोकसभा में बहु–दलीय प्रणाली का स्पष्ट प्रभाव देखा गया था। बहु–दलीय प्रणाली के अंतर्गत ही राष्ट्रीय स्तर पर गठबंधन व अल्पमत की सरकारों का दौर प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार गठबंधन की राजनीति अस्तित्व में आने के कारण भारत में संघीय प्रवृत्तियों का अभूतपूर्व विकास हुआ हैं। इसके साथ ही राज्य स्तरीय सरकारों की स्वायत्तता में वृद्वि देखी गई। जिसके चलते राज्य सरकारों कि राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में भूमिका पहले कि अपेक्षा अधिक बढ़ गई, जो एक महत्वपूर्ण राजनीतिक बदलाव था। दलीय राजनीति से प्रेरित होकर ही केन्द्र सरकारों के द्वारा राज्यों कि राजनीति में हस्तक्षेप कि प्रवृत्ति भी बढ़ गई हैं। इस दृष्टि से संविधान के अनुच्छेद 356 के दुरूपयोग को देखा जा सकता हैं। किन्तु गठबंधन सरकारों के काल में संविधान के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत दूसरे दलों कि राज्य सरकारों को असंवैधानिक तौर पर ध्वस्त कर देने की प्रवृति पर अकुंश लगा हैं। गठबंधन सरकारों में राष्ट्रपति प्रधानमंत्री एवं मंत्रिपरिषद कि शक्तियों व कार्यकलाप का एक नया आयाम विकसित हुआ हैं। राष्ट्रपति कि स्वविवेक शक्तियों के प्रयोग कि संभावनाएँ भी बढ़ गई हैं। इसके साथ ही प्रधानमंत्री की शक्तियों पर भी गठबंधन सरकार के घटक दलों का नियंत्रण स्थापित हो गया हैं।

इस व्यवस्था का एक दूसरा पहलू यह भी देखा गया हैं कि मंत्रिमंडल की एकता तथा संसद के प्रति उत्तरदायित्व के सिद्वांत में व्यवहारिक विखंडन आया हैं। किन्तु न्यायपालिका की शक्तियों तथा क्रियाशीलता में अभूतवपूर्व विस्तार हुआ हैं। इस प्रकार भारतीय दलीय प्रणाली कि नवीन प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर प्रभाव देखा जा सकता हैं।

## राष्ट्रपति कि सक्रियता में वृद्वि

1989 ई. के बाद बहु दलीय राजनीति के प्रभावी होने के कारण भारतीय राजनीति में गठबंधन सरकारों का नवीन युग शुरू हो गया था। बहु–दलीय युक्त गठबंधन सरकारों के काल में राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और अन्यों की भूमिका में परिवर्तन देखा गया। सर्वप्रथम इस समय क्षेत्रीय दलों की शक्ति में वृद्वि हो गई, जिसके चलते प्रधानमंत्री पद की गरिमा और स्थिति में आंशिक गिरावट देखी गई किन्तु आधुनिक भारतीय राजनीति में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अत्यधिक शक्तिशाली हो गया हैं तथा संवैधानिक प्रमुख रूप से राष्ट्रपति अब सम्पूर्ण राष्ट्र के रूप में सामने आया हैं। अतः वास्तव में राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति में राष्ट्रपति आपात काल की भी घोषणा कर सकता हैं। परवर्तित राजनीतिक सन्दर्भ में संविधान के प्रावधानों के अनुरूप शासन के संचालन को सुनिश्चित करने के दायित्व की पूर्ति के लिये उसी संविधानिक शक्तियों को वास्तविक शक्तियों के रूप में प्रवृत करने की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती हैं।[1] 1989–1999 के काल में राष्ट्रपति ने गठबंधन व मिली–जुली सरकारों की स्थिति के अंतर्गत मुख्य रूप से लोकसभा में बहुमत पर संदेह के सन्दर्भ में सरकारों के निर्माण और पतन में अहम् भूमिका निभायी थी। इस प्रकार बदलती हुई भूमिका के कारण जेम्स मैनर ने अपने प्रसिद्व लेख ष्जीम च्तमेपकमदबलष में स्पष्ट करते हैं कि –राष्ट्रपति का पद 1989 से अत्यधिक महत्वपूर्ण बनता जा रहा हैं क्योंकि वह अब सरकारों को बनाने के खेल का निर्णायककर्त्ता हैं। अब राष्ट्रपति यह निर्णय लेता हैं कि वह प्रधानमंत्री की लोकसभा को भंग करने की सिफारिश को मंजूरी दे या नहीं। इस तरह खंड़ित संसदों के युग में राष्ट्रपति का पुराना कार्य अब काफी जटिल, उलझनभरा और मुश्किल हो गया हैं।[2]

भारत में राष्ट्रपति कि बढ़ती भूमिका का विश्लेषण करते हुए जेम्स मैनर ने वेंकटरमण (1987–1992), शंकर दयाल शर्मा (1992–1997), के आर नारायणन (1997–2002) की भूमिका का परीक्षण किया। मैनर बताते हैं कि वेंकटरमण ने दृढ़ होने के मुद्दे को शायद अपने प्रयास से खोल दिया था। शंकरदयाल शर्मा दृढ़ नहीं थे और के. आर. नारायणन वास्तविक रूप में दृढ़ थे, जिसमें उनका व्यक्तित्व, पद में निहित शक्तियाँ और उस समय की परिस्थितियाँ तीनों चीजें महत्वपूर्ण थी। इस प्रकार राष्ट्रपति कि सक्रियता और प्रभाव में वृद्वि देखी गई हैं।

## प्रधानमंत्री के प्रभाव एवं स्थिति का पतन

भारतीय राजनीति में एक दलीय वर्चस्व के काल में प्रधानमंत्री कि पद एवं स्थिति महत्वपूर्ण बनी रही थी किन्तु जब राजनीतिक व्यवस्था में एक दलीय वर्चस्व के स्थान पर बहुदलीय गठबंधन कि राजनीति का प्रारम्भ हुआ तब से प्रधानमंत्री के पद एवं स्थिति में पतन देखा गया हैं। जिससे प्रधानमंत्री के पर कि गरिमा में कमी आई हैं। 1989–2014 तक सभी गठबंधन सरकारों के काल में क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का योगदान अत्यधिक रहा था। इसी कारण क्षेत्रीय राजनीतिक दलों ने केन्द्र सरकार के गठबंधन में शामिल होकर सरकार–निर्माण में मदद करते रहें हैं। इसी का प्रभाव रहा था कि इन क्षेत्रीय राजनीतिक दलों को केन्द्रीय मंत्रीमण्डल में शामिल किया जाता था। इतना ही इन सहयोगी राजनीतिक दलों के मुखिया राजनेताओं के अतिरिक्त करीबी राजनीतिज्ञ को भी मंत्रिमण्डल में स्थान दिया जाता था। कभी–कभी अन्य संस्थाओं में भी प्रमुख के पद पर नियुक्ती दी जाती रहीं हैं। इसके साथ ही सहयोगी दलों के द्वारा केन्द्रीय सरकार पर दबाव बना कर अपनी माँगे भी मनवायी जाती रहीं हैं। इस प्रकार ये सहयोगी राजनेता मंत्रीमण्डल में रहते हुए भी अपने क्षेत्रीय संरक्षकों के प्रति जवाबदेह होते हैं न कि मंत्रिमण्डल या प्रधानमंत्री के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इससे मंत्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्वांनत का भी हनन होता हैं। जो कि संसदीय शासन प्रणाली के लिए उचित नहीं हैं। इस प्रकार कि गठबंधन सरकारों में कई बार सहयोगी मंत्री प्रधानमंत्री के प्रति जवाबदेह न होकर क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के प्रति अधिक निर्भर रहते हैं।

इस प्रकार कि गठबंधन सरकारों में कई बार मंत्रिमण्डल के द्वारा प्रधानमंत्री कि इच्छा के विपरीत भी कार्य होते हैं, भले ही प्रधानमंत्री उससे सहमति नहीं रखता हों। अतः सरकार को बचाए रखने के लिए बाहरी दबावों अथवा विशेष हितों की पूर्ति के कारण मंत्रिमण्डल के निर्णय प्रभावित होते हैं। इसके साथ ही क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के द्वारा गठबंधन के नेताओं का निर्धारण भी किया जाता हैं। क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के द्वारा अपने समर्थन के आधार पर यह तय करते हैं कि प्रधानमंत्री किसे बनाना हैं और किसे नहीं ? गठबंधन में शामिल राजनीतिक दलों के द्वारा ऐसे व्यक्ति को अपना समर्थन दिया जाता हैं जो उन्हें पंसद हो ताकि उनके हितों की पूर्ति राष्ट्रीय राजनीति में सहजता से कि जा सकें। इन सभी कारणों के चलते प्रधानमंत्री कि शक्ति, सत्ता, प्रभाव व स्थिति आदि में बहुदलीय गठबंधनयुक्त व्यवस्था में कमी आयी हैं। भारतीय राजनीति में 2014 में हुए निर्वाचनों में इस स्थिति में पुनः बदलाव आया इस निर्वाचन में पूर्ण बहुमत कि प्राप्ति हुई। पूर्ण बहुमत सरकार के प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी बनाये गये क्योंकि उनका व्यक्तित्व व कार्यप्रणाली काफी सशक्त रही थी। नरेन्द्र मोदी के कार्यकाल में प्रधानमंत्री के पद एवं स्थिति में सुदृढता आई हैं।

## राज्यपाल की भूमिका में परिवर्तन होना

भारतीय राजव्यवस्था में राज्यपाल के पद का विशेष महत्त्व रहा हैं। भारतीय संविधान में किये गये प्रावधानों के अनुसार राज्यपाल के द्वारा दोहरी भूमिका का निर्वाह किया जाता हैं।

**प्रथम**– केन्द्र के एंजेट के रूप में।

**द्वितीय**– राज्य के प्रमुख के रूप में।

भारतीय प्रशासन व्यवस्था में राज्यों की भूमिका विशेष महत्त्व होता हैं। संवैधानिक दृष्टि से राज्यों के प्रशासन के लिए अनेक प्रावधान किये गये हैं, जिनमें राज्यपाल का पद भी प्रमुख हैं। राज्यपालों के द्वारा 1967 ई. तक अपनी भूमिका का निर्वाह सही से किया गया किन्तु 1967 ई. के बाद विभिन्न राज्यों में गैर–कांग्रेसी सरकारों का गठन किया गया था। इसके बाद राज्यपाल पर केन्द्र के एंजेट के रूप में कार्य करने के आरोप लगाये गए। राज्यपाल पर ये आरोप संविधान के अनुच्छेद 356 के आधार पर लगाए गये हैं। इस अनुच्छेद के अनुसार राज्य में संवैघानिक संकट पैदा होने पर राज्यपाल अपनी रिपोर्ट जिसमें वह सिफारिश करे कि राज्य विधानसभा भंग कर दी जाए, राष्ट्रपति को भेजेंगे जिसे वह अध्ययन कर केंन्द्र सरकार की सलाह पर स्वीकार या अस्वीकार कर लेता हैं। राज्यपाल के द्वारा भेजी गई रिपोर्ट को यदि स्वीकार कर लिया जाता हैं तो इसके बाद सम्बन्धित राज्य की विधानसभा को भंग कर दिया जाता हैं और वहा पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाता हैं। इस प्रकार उस राज्य का शासन राष्ट्रपति के पास आ जाता हैं जिसे वह अपने प्रतिनिधि के माध्यम से संचालित करता हैं।

भारतीय राजव्यवस्था में अनुच्छेद 356 का कई बार दुरूपयोग किया गया हैं। जैसेः– 1977 में जब आंतरिक आपातकाल के बाद जनता दल की मोरारजी देसाई के नेतृत्व में सरकार बनी, तब जनता दल ने कांग्रेस शासित 9 राज्यो में राष्ट्रपति शासन लगा दिया था। इसी तरह जब 1980 में इंदिरा गाँधी सत्ता में वापस आई तो उन्होंने भी 9 राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। इसके पीछे मूलतः अपने विपक्षी दलों द्वारा शासित राज्य सरकारों में केन्द्र द्वारा राजनीतिक बदला लेना ही कारण था।[3]

राज्यपाल की स्थिति में गठबंधन सरकारों के काल में परिवर्तन देखा गया। अब राज्यपाल केन्द्र के एंजेट की अपेक्षा राज्य के प्रतिनिधि के रूप में देखे जाने लगें। इस परिवर्तन के लिए बहुदलीय व्यवस्था भी उत्तरदायी रही हैं। जब केन्द्र सरकार में प्रधानमंत्री, मंत्रिमंड़ल अधिक शक्तिशाली नहीं रह गए और केन्द्र की शक्ति क्षीण होते ही कई राज्यपालों ने केन्द्र के निर्णयों व आदेशों को मानने से इन्कार कर दिया। 1990 के दशक में राज्यपालों ने स्वायत्ता को दिखाया। यथा– तमिलनाडू के राज्यपाल 'सुरजीत सिंह बरनाला' ने 1990 की शुरूआत में द्रविड़ मुनेत्र कडगम की सरकार के विघटन और बिहार में उनके स्थानान्तरण के खिलाफ त्याग–पत्र दे दिया। इसी तरह दूसरे उदाहरण 1992 में केन्द्र ने नागालैण्ड में राज्यपाल एम. एम. थॉमस को हटा दिया था, क्योंकि उसने बिना केन्द्र की सलाह लिए मुख्यमंत्री वामुजो की सलाह पर विधानसभा को भंग कर दिया था। इस पर राज्यपाल ने स्पष्ट रूप से अपने कृत्य को सही बताते हुए कहा कि जब बहुमत प्राप्त सरकार का मुख्यमंत्री सदन के भंग की सलाह देता हैं तो वह संवेधानिक रूप से उसे मानने के लिए बाध्य हैं तथा केन्द्र राज्य के रूप में अपनी इच्छा के लिए दबाव ड़ाल रहा हैं, जो समस्या खड़ी कर सकता हैं। अतः निश्चित रूप से यह कहा जा सकता हैं कि बहु–दलीय गठबंधनयुक्त व्यवस्था में राज्यपाल राज्य के अध्यक्ष के रूप में अपनी भूमिका के प्रति संवेदनशील बन गये हैं।

## संसद के द्वितीय सदन (राज्य सभा) की सरंचना में बदलाव

आधुनिक समय में गठबंधन सरकारों के काल में संसद के द्वितीय सदन अर्थात राज्य सभा की सरंचना में बदलाव देखा गया हैं। राज्य सभा के सदस्य राज्य व संघ केन्द्रशासित प्रदेशों के विधानसभा चुनते हैं। इसके बावजूद यह सदन न तो केन्द्र व राज्यों के बीच संघर्ष की परिषद् हैं, न ही राज्यों के अधिकारों का रक्षक न ही क्षेत्रीय मांगों की अभिव्यक्ति का सदन हैं। यह सदन दूसरे सदन (लोकसभा) की तरह ही हैं। भारतीय राजनीति में 1989 ई. के पश्चात् एक–दलीय प्रभुत्व का समय समाप्त हो गया हैं और बहु–दलीय गठबंधनयुक्त व्यवस्था का काल चल रहा हैं, जहां क्षेत्रीय दल राज्यों में अपनी शक्ति के बल पर सरकार बनाते हैं और लोकसभा की सीटें भी जीतते हैं इसलिए यह संभव नहीं हैं कि यदि किसी दल को लोकसभा में बहुमत हो तो वह राज्य सभा में पारित न हो पाए। प्रो. एम. पी. सिंह मानते हैं कि दलीय व्यवस्था में आए परिवर्तन से राज्यसभा योग्य संघीय द्वितीय सदन बन गया हैं। इस परिवर्तन को वह निम्नलिखित तर्कों से स्पष्ट करते हैं।[4]

- राज्य सभा को लोकसभा के समान संघीय शक्तियाँ प्राप्त है बल्कि संविधान–संशोधन, किसी मुद्दे पर दोनों सदनों के गतिरोध को खत्म करने के लिए हो रही सयुक्त सत्र में अपनी राय रखने की उसके पास निषेधाधिकार शक्तियाँ हैं।
- संयुक्त सत्र में फैसला हमेशा लोकसभा के पक्ष में जाए यह हमेशा संभव नहीं। हालांकि लोकसभा के पास अधिक सदस्य संख्या हैं परन्तु जटिल गठबंधनयुक्त व्यवस्था के चलते यह संभव हैं कि संयुक्त सत्र में फैसला राज्य सभा के पक्ष में जाए।
- राज्य सभा सरकार को राज्य सूची के मुद्दे और अखिल भारतीय सेवा से सम्बन्धित कानून बनाने से रोक सकती हैं।

2003 ई. भारतीय संसद के द्वारा राज्यसभा की रचना में की पद्वति में दो प्रभावी बदलाव किये गए हैं। प्रथम–मूल संविधान में व्यवस्था थी कि राज्यसभा के उम्मीदवार का नाम उस राज्य की मतदाता सूची में होना आवश्यक हैं, जिस से वह राज्यसभा का चुनाव लड़ना चाहता हैं। अब व्यवस्था की गई हैं कि राज्यसभा के उम्मीदवार के लिए उस राज्य का निवासी होना आवश्यक नहीं होगा, जिस राज्य से वह राज्यसभा का चुनाव लड़ना चाहता हैं। द्वितीय–गुप्त मतदान की व्यवस्था के कारण राज्य सभा के चुनाव में विधायक धन के प्रलोभन से प्रभावित होकर अपने मताधिकार का प्रयोग करते हुए पाए गए हैं। इस भ्रष्ट आचरण को समाप्त करने के लिए राज्यसभा के चुनाव में गुप्त मतदान के स्थान पर खुले मतदान की व्यवस्था को अपनाया गया हैं।[5]

इस प्रकार राज्यसभा की संघीय प्रासंगिकता बढ़ रही हैं, जो प्रमुखतः बढ़ते क्षेत्रीयकरण तथा राजनीतिक व्यवस्था के संघीयकरण के कारण भी हैं।

## संसद के प्रभाव में कमी होना

व्यवस्थापिकाओं के पतन के सम्बन्ध में **के. सी. व्हीयर** ने कहा हैं कि ''व्यवस्थापिकाओं ने अपनी शक्तियॉ, कार्यकुशलता व सम्मान को बनाए रखा हो या इनमें वृद्वि तक कर ली हो, ऐसा सम्भव हैं, फिर भी उनका अन्य संस्थाओं से सापेक्ष रूप में इन सभी पहलुओं में पतन हुआ हैं क्योंकि अन्य संस्थाओं ने अपनी शक्तियां बढ़ाकर अपना दर्जा सुधार लिया हैं।''[6] भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में बहुदलीय गठबंधनयुक्त सरकारों के काल में संसद के प्रभाव में कमी देखी गई हैं। एक दलीय–प्रभुत्व सरकारों के काल में संसद एक प्रभावशाली संस्था के रूप में अच्छे से कार्य करती थी। संसद में विभिन्न विवादों के चलते बहस होती थी, लेकिन फिर भी कानून पारित होते थे। वर्तमान समय में स्थिति बदल गई हैं, अब संसद में गतिरोध इतना अधिक बढ़ गया हैं कि सदन चलने ही नहीं दिया जाता हैं। संसद में अब पूरे सत्र में कुछ घण्टे भी कार्य नहीं हो पाता, न ही बहस होती हैं, न ही पर्याप्त कानून पारित होते हैं। संसद की इस स्थिति के लिए विपक्ष की जड़ता जिम्मेदार हैं और सरकारी पक्ष की जवाबदेह न बनने की प्रवृत्ति भी। इन सबके अलावा संसद में भ्रष्टाचार, सांसदों का पैसा लेकर प्रश्न पूछना, नोटों को भ्रष्टाचार के प्रमाण के रूप में सदन में उछालना आदि से संसद की स्थिति एवं प्रभाव में कमी आ गई हैं।

## राज्य स्तरीय दलों का बढ़ता महत्त्व

भारतीय राजनीति में 1968 तक लोकसभा में सदैव एक ही राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त रहा, लेकिन 1969 में कॉग्रेस के विभाजन के पश्चात् इंदिरा गाँधी सरकार एक अल्पमत सरकार हो गई। यह सरकार भारतीय साम्यवादी दल एवं द्रमुक के समर्थन से कुछ अन्य राजनीतिक दलों के ''मुददों पर आधारित बनी हुई थी। यह स्थिति कुछ समय तक रही और 1971 में पॉचवी लोकसभा चुनाव में कॉग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ और सरकार का निर्माण किया।''[7]

1980 ई. के बाद क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का महत्त्व बढ़ने लगा क्योंकि अब राष्ट्रीय दलों के प्रभाव में निरन्तर कमी होती चली जा रही थी। इसका प्रमुख कारण बहुदलीय प्रणाली में राजनीतिक दलों के सिद्वान्तों व विचारधारा के प्रति प्रतिबद्वता का पतन एवं राजनीतिक अवसरवादिता, सत्ता प्राप्ति की लालसा, राजनेताओं की व्यक्तिगत महत्वकांक्षा, राष्ट्रीय दलों के प्रभावक्षेत्र में कमी, करिश्माई नेतृत्व का अभाव और क्षेत्रीय दलों का उदय आदि थे।[8] देश के कुछ राज्यों में क्षेत्रीय दल इतने प्रभावशाली रहे हैं कि उन्होने अपने दम पर सरकार बना ली। मायरन वीनर

ने अपनी पुस्तक 'स्टेट पॉलिटिक्स इन इंड़िया' (1968) में इसका एक अध्ययन किया, जिसमें उन्होंने माना कि राज्य विकास के निर्णयों के केन्द्र हैं, राज्य तुलनात्मक अध्ययन की इकाइयाँ हैं तथा दलीय व्यवस्था के नए मॉड़ल हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती हैं।

भारतीय राजनीति में 1989 ई के बाद क्षेत्रीय राजनीतिक दल बहुत अधिक सशक्त हो गये हैं और इन दलों ने विभिन्न राज्यों में सरकारें भी बनाई हैं। एक दलीय व्यवस्था की समाप्ति हुई और एक प्रकार की राजनीति का पुनर्विन्यास हुआ, जिसका का संचालन राज्यों की राजनीति के माध्यम से किया जाने लगा। इस व्यवस्था का संचालन क्षेत्रीय दलों के द्वारा किया जाता था। 1989 ई. के लोकसभा निर्वाचन के समय से ही राष्ट्रीय राजनीति में प्रादेशिक दलों कि भूमिका महत्त्वपूर्ण बन गई हैं। केन्द्र में संविद या गठबंधन सरकारों के गठन करने तथा उनकी अपदस्थगी में उनकी स्थिति अहम् बन गई है। 1991, 1996 तथा 1998 ई. में केन्द्र में अस्तित्व में आई। केन्द्र सरकारों में से, केवल 1991 ई. में श्री पी. वी. नरसिंहराव के नेतृत्व वाली कांग्रेस (ई) की एकदलीय सरकार को इसका अपवाद माना जा सकता हैं।[9]

## राज्य राजनीति का बढ़ता प्रभाव :–

आधुनिक भारतीय राजनीति कि एक विशिष्टता यह रही हैं, अब राज्यों कि राजनीति का प्रभाव राष्ट्रीय राजनीति पर देखा जा सकता हैं। कई बार ऐसी घटनाएँ घटित हुई हैं जिनके आधार पर स्पष्टतौर पर कहा जा कि राज्य राजनीति राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करती हैं। वर्तमान में राष्ट्रीय स्तर पर बनने वाली सरकारों का निर्धारण भी राज्यों की राजनीति से ही होने लगा हैं, विशेषरूप बड़े राज्यों जैसे उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, बिहार आदि। इन राज्यों में जिस दल का प्रभाव अधिक होता हैं। राष्ट्रीय स्तर पर उसी दल की सरकार बनती हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय राजनीति में राज्य सरकारों का प्रभाव बढ़ता जा रहा हैं।

## द्वितीय लोकतांत्रिक जन–उफान :–

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में लोकतांत्रिक परिवर्तन को दर्शाने के लिए योगेन्द्र यादव ने 'द्वितीय लोकतांत्रिक जन–उफान' पद का प्रयोग किया हैं। वर्तमान में बदलती दलीय व्यवस्था ने लोकतंत्र को सशक्त बनाया हैं। लोकतांत्रिक जन उफान का अभिप्राय है कि आम जनता की लोकतंत्र के प्रति आस्था व सक्रियता का अत्यधिक होना। प्रथम लोकतांत्रिक जन–उफान 1960 के दशक में भारतीय राजनीति में दिखाई देता हैं, जब मतदान प्रतिशत 60 प्रतिशत के पास पहुँच गया। कांग्रेस ने सामाजिक अनुक्रम में नीचे आने वाली जातियों को अपने दल व राजनीति में उन्हें स्थान दिलाया। इन जातियों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई। चुनाव में प्रत्याशियों की संख्या बढ़ती चली गई। कांग्रेस के प्रभुत्व के प्रति राज्यों में विकल्प खड़े किये जाने लगें। आम जनता अपने अधिकारों का प्रयोग करने लगे। इसे ही योगेन्द्र यादव ने प्रथम लोकतांत्रिक जन–उफान की संज्ञा दी हैं। आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में द्वितीय लोकतांत्रिक जन–उफान 20वीं सदी के अंतिम दशक में देखा गया हैं। जहां 1952 में प्रति सीट प्रत्याशियों का औसत 4.7 प्रतिशत था, वहीं 1993–1995 में 14.7 प्रतिशत हो गया। इस समय समाज के हर वंचित वर्ग–दलित, अन्य पिछड़ा वर्ग, अल्प–संख्यक, आदिवासी वर्ग, महिलाओं अर्थात् बहुजन का उभार इस दौर तक हो गया। समाज के ये सभी वर्ग राजनीति में सहभागिता करने लगे, चुनाव लड़ने–जीतने लगे। कई राज्यों में वह सत्ता प्राप्त करने में भी सफल रहें। योगेन्द्र यादव मानते हैं कि इस काल में राज्य राजनीति में दलित–बहुजन वर्ग ने राष्ट्रीय राजनीति से ज्यादा चुनावी सहभागिता दर्ज करायी थी। द्वितीय लोकतांत्रिक जन–उफान के पीछे पिछड़ी जातियों का बढ़ता मताधिकार व मत–प्रतिशत था। अल्प–संख्यक वर्ग की चुनाव में सहभागिता कई क्षेत्रों में पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ गई। ग्रामीण क्षेत्रों में भी शहरी क्षेत्रों से ज्यादा चुनावी राजनीतिक सहभागिता देखी गई। आदिवासियों ने भी मतदान में सक्रिय भागीदारी निभाई। विभिन्न पिछड़े क्षेत्रों ने विकसित क्षेत्रों से अधिक मतदान किया। इसी प्रकार पुरूषों की अपेक्षा महिलाओं ने भी मतदान के प्रति अधिक सक्रियता दिखाई। परिणामतः इस काल में मतदान प्रतिशत में आश्चर्यजनक वृद्वि देखी गई। जन–सामान्य में राजनीति के प्रति इस जागरूकता का एक कारण पंचायतों में चुनावी सहभागिता को भी माना जा सकता हैं। ग्रामीण क्षेत्र को अधिक व अच्छा राजनीतिक प्रतिनिधित्व भी मिला। 1990 से पहले की अपेक्षा दलित, आदिवासी, अन्य पिछड़ा वर्ग अर्थात् बहुजन वर्ग ज्यादा मतदान करने लगे हैं। इसलिए भारत का पिछड़ा वर्ग, राजनीतिक रूप से सक्रिय हुआ हैं। शिक्षा के प्रसार व क्षेत्रीय दलों ने लोकतांत्रिक रस आम जनता तक पहुंचाया हैं। इसे ही दूसरा लोकतांत्रिक जन–उफान कहा गया हैं, जो लगातार चल रहा हैं।

## भारत का अर्ध–संघ से महासंघ की ओर रूझान :–

भारतीय राजनीति में 1989 ई. तक एक दलीय प्रभुत्व का दौर प्रचलित रहा था। इसी कारण संसदीय तत्त्वों का प्रभाव राजनीति में बना रहा। यद्यपि इस काल में क्षेत्रीय दलों का प्रभाव बना रहा किन्तु वर्तमान के तरह क्षेत्रीय दल अत्यधिक महत्त्व नहीं रखते थे। यही कारण था कि राज्य राजनीति राष्ट्रीय राजनीति पर हावी नहीं थी। इसके साथ ही राज्य स्वायत्तता और क्षेत्रीय आकांक्षाओं जैसे मुद्दे गौण बने रहे। 1989 ई. के पश्चात् कुछ नए क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का शक्तिशाली दलों के रूप में उदय हुआ तथा पुराने क्षेत्रीय दलों ने भी अपनी शक्ति ओर प्रभाव में वृद्वि कर ली थी। क्षेत्रीय दलों की बढ़ती शक्ति का प्रमाण उनके द्वारा किये गये कार्यो के रूप में देखा जा सकता हैं। जैसे–कुछ राज्यों में क्षेत्रीय दल अकेले बहुमत प्राप्त करने की स्थिति में पहुँच जाते हैं इन दलों में असम गण परिषद–असम में, तेलुगुदेशम पार्टी–आंध्र प्रदेश में, इसी प्रकार द्रविड़ मुनेत्र कजगम व अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कजगम–तमिलनाडू में प्रभाव स्थापित कर पाने में सफल हो जाते हैं। पजांब राज्य में अकाली दल ने आनंदपुर साहिब का प्रस्ताव रखता हैं। क्षेत्रीय दलों के इन कार्यो ने राष्ट्रीय राजनीति में एकदलीय प्रभुत्व के स्थान पर बहुदलीय गठबंधन के युग को प्रारम्भ कर दिया, जो कि दलीय व्यवस्था का भारतीय राजनीति पर प्रभाव के रूप में देखा जा सकता हैं।

## न्यायिक सक्रियता में वृद्वि होना :–

न्यायिक सक्रियता नागरिकों के अधिकारों के संरक्षण और समाज में न्याय को बढ़ावा देने में न्यायपालिका द्वारा निभाई गई सक्रिय भूमिका को दर्शाती हैं। दूसरे शब्दों में, इसका तात्पर्य न्यायपालिका द्वारा सरकार के अन्य दो अंगो (विधायिका और कार्यपालिका) को उनके संवैधानिक कर्तव्यों के निर्वहन के लिए बाध्य करने की मुखर भूमिका से हैं। भारत में, न्यायिक सक्रियता के सिद्वान्त को 1970 के दशक के मध्य में पेश किया गया था। न्यायमूर्ति वी. आर. कृष्णा अययर, न्यायमूर्ति पी. एन. भगवती, न्यायमूर्ति ओ. चिन्नाप्प रेड्डी और न्यायमूर्ति डी. ए. देसाई ने देश में न्यायिक सक्रियता की नींव रखी।[10] भारतीय राजनीति में दलीय व्यवस्था के बदलते स्वरूप के कारण न्यायिक सक्रियता में वृद्वि हुई हैं। भारतीय प्रशासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका में शक्तियों का विभाजन किया गया हैं परन्तु जब तक एक दलीय प्रभुत्व का प्रचलन रहा, तब तक संसद ही प्रभावशाली संस्था रही थी। यद्यपि संवैधानिक प्रावधानों के आधार पर न्यायपालिका संसद के बनाए कानूनों की

समीक्षा कर उन्हें अवैध घोषित कर सकती हैं किन्तु ऐसी स्थिति में संसद संविधान में संशोधन कर कानूनों को वैध घोषित कर सकती हैं।

1989 ई. के बाद होने वाले दलीय परिवर्तनों के चलते गठबंधन सरकारों की स्थापना होने लगी। इससे संसद कमजोर होती चली गयी, जिससे संसद के कार्यो में न्यायपालिका का हस्तक्षेप बढ़ने लगा। न्यायपालिका ने गरीबों के कल्याण से जुड़े कई निर्णय दिए। इनमें एशियाड़ खेल केस, भागलपुर जेल कांड़, विशाखा केस, नर्सरी एडमिशन केस आदि प्रमुख हैं। एस. आर. बोम्मई वाद का निर्णय भी इसी काल में आया, जिसमें न्यायपालिका ने राष्ट्रपति शासन को लगाने की संवैधानिकता की समीक्षा करने का निर्णय न्यायपालिका को दे दिया, जबकि एक दलीय व्यवस्था के काल में न्यायपालिका इसे मना कर चुकी थी। मध्यान्ह भोजन कार्यक्रम, भोजन के अधिकार से जुड़े अंतरिम आदेश सर्वोच्च न्यायलय ने इसी दौर में जारी किए। इस प्रकार न्यायिक सक्रियता में वृद्वि होना भी दलीय व्यवस्था के परिवर्तन के प्रभाव के रूप में देखा जा सकता हैं।

इस प्रकार दलीय व्यवस्था में होने वाले बदलावों ने भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया हैं।

## सन्दर्भ सूची

1. डॉ. बालेन्द्र सिंह, भारतीय राजव्यवस्था में सांझा सरकारें, आर. बी. एस. ए. पब्लिशर्स, 340 चौड़ा रास्ता, जयपुर 2012, पृ. सं. 44
2. जेम्स मैनर, द प्रसिडेन्सी 2005, देवेश कपूर और प्रताप भानू मेहता, पब्लिक इन्सटियूट इन इंडिया, नई दिल्लीः/ आक्सफोर्ड यूनिवरसिटी प्रेस पृ 106
3. एम. लक्ष्मीकांत, भारत की राजव्यवस्था, एमसी ग्रो हिल एजुकेशन (इंड़िया) प्राइवेट लि. नई दिल्ली 2014, पेज. सं. 16.7
4. एम. पी. सिंह एण्ड़ रेखा सक्सेना, इंडियन पॉलिटिक्स : संवैधानिक आधार और संस्थागत कार्य, 2011, नई दिल्ली, पृ. सं. 102–103
5. डॉ. पुखराज जैन, भारतीय राज–व्यवस्था, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ. सं. 162
6. डॉ. पुखराज जैन, राजनीति विज्ञान के मूल आधार, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ. सं. 209
7. बी. एल. फड़िया, ''भारतीय शासन एवं राजनीति'', साहित्य भवन प्रकाशन, आगरा, 2011, पृ. सं. 576
8. डॉ. बालेन्द्र सिंह, भारतीय राजव्यवस्था में सांझा सरकारें, आर. बी. एस. ए. पब्लिशर्स, 340 चौड़ा रास्ता, जयपुर 2012, पृ. सं. 101
9. प्रो. धर्मचन्द जैन, भारतीय शासन और राजनीति (भाग–2), आर. बी. एस. ए. पब्लिशर्स, 340, चौड़ा रास्ता, जयपुर 2014, पृ. सं. 165
10. hi.m.wikipedia.org